इकाई-II

याज्ञवल्क्यस्म ति

इस स्म ति का सम्बन्ध ऋषि याज्ञवल्क्य से है। वैदिक ऋषियों की परम्परा में याज्ञवल्क्य का स्थान महत्वपूर्ण है जिसके अनुसार याज्ञवल्क्य मुख्यतः शुक्ल यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण के द्रष्टा हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञवल्य के विषय में अनेक आख्यान हैं और इनमें याज्ञवल्क्य के विचारों को मान्यता दी गई है। एक स्थान पर वे जनक को अग्निहोत्र यज्ञ समझाते हैं और स्वयं जनक से गूढ याज्ञिक क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। एक अन्य स्थान पर याज्ञवल्क्य और शाकल्य के शास्त्रार्थ का वर्णन है जिसमें देवताओं की संख्या के विषय में विचार किया गया है और अन्त में याज्ञवल्क्य के ऐकेश्वरवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

स्म ति साहित्य में मनुस्म ति के बाद यह दूसरी महत्वपूर्ण स्म ति है। कुछ द ष्टि से तो याज्ञवल्क्य स्म ति का मनुस्म ति की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक महत्त्व है। याज्ञवल्क्य स्म ति मनुस्म ति के बाद की रचना है। यह बात विषयवस्तु के कारण स्पष्ट है क्योंकि इसमें विषयवस्तु का विधिवत् विभाजन किया गया है। इन दोनों स्म तियों की तुलनात्मक विशेषताओं के विषय में वेबर ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं :-

"जो विषय दोनों में पाये जाते हैं, उनमें भी हम याज्ञवल्क्य में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता पाते हैं और विशिष्ट उदाहरणों में दोनों में ठोस अन्तर दिखाई पड़ता है। याज्ञवल्क्य का द ष्टिकोण स्पष्टतः बाद के समय का है।"

याज्ञवल्क्य स्म ति मनुस्म ति की अपेक्षा छोटी है। मनुस्म ति में २७०० श्लोक हैं जबकि याज्ञवल्क्य में लगभग १००० श्लोक हैं। शैली की द ष्टि से याज्ञवल्क्य स्म ति संक्षिप्त और प्रवाहमय है। प्रो० पी०वी० काणे ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि याज्ञवल्क्य स्म ति के रचियता के सामने रचना करते समय मनुस्म ति रही होगी क्योंकि अनेक स्थलों पर दोनों स्म तियों में समन शब्द पाये जाते हैं। किन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश दिया गया है कि याज्ञवल्क्य एक मौलिक विचारक और धर्मशास्त्रकार है। वे पहले के आचार्यों का पिष्टपेषण मात्र नहीं करते अपितु देश काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित मान्यताओं को स्थापित करते हैं और अपने पूर्ववर्ती मनु से कई स्थलों पर सहमत नहीं होते। भाषा की द ष्टि से भी याज्ञवल्क्य स्म ति पाणिनि के नियमों का पालन करती है।

याज्ञवल्क्य स्म ति का रचनाकाल

इस स्म ति के समय के विषय में वेबर का कथन है कि इस रचना के लिए प्राचीनतम सीमा दूसरी शताब्दी ईसवी के आसपास मानी जा सकती है। क्योंकि इसमें मुद्रा के अर्थ में नाणक शब्द का प्रयोग हुआ है। सिक्कों के लिए नाणक शब्द का प्रयोग ४०वीं ई० सन् में होने का प्रमाण है। दूसरी ओर इस समय की निचली सीमा छठी या सातवीं शताब्दी रखी जा सकती है क्योंकि विल्सन के अनुसार इस स्म ति के अंशों को भारत के अनेक भागों में शिलालेखों में उद्ध त किया गया है। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् याकोबी ने याज्ञवल्क्य स्म ति का समय १२ ग हों की संस्था के आधार पर चतुर्थ शताब्दी ईसवी के बाद माना है। प्रो० पी०वी० काणे

संस्थाओं का गठन किया जाता है।

याज्ञवल्क्य स्म ति में विवादों को व्यवहार नाम से सम्बोधित किया गया है। व्यवहार शब्द का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :- वि + अव + हार। वि का अर्थ है विविध, अव का अर्थ है सन्देह और हार का अर्थ है हरण। इसका पूर्ण अर्थ हुआ कि जिस कार्य में अनेक प्रकार के सन्देहों को राजनिर्णय के द्वारा हरण किया जाए या दूर किया जाये यह व्यवहार है।

मनु के मतानुसार भ त्यों के सहित जिस राजा के देखते हुए विलखती हुई प्रजा चारों ओर से लूटी जाती है वह राजा जीवित नहीं अपितु म तक है। अतः मनुष्यों के मध्य अधिकार हरण सम्बन्धी प्रव त्ति को रोकने के लिए न्याय व्यवस्था की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है।

मात्स्य-न्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजनं चक्रिरे।

अर्थशास्त्र की इस उक्ति के अनुसार मात्स्य न्याय से छुटकारा पाने के लिए प्रजा ने सर्वप्रथम मनु को राजा चुना था। स्म ति एवं नीति ग्रन्थों की रचना जिन्हें तत्कालीन संविधान कहा जा सकता है के पीछे भी न्यायिक व्यवस्था व परम्परा का द ष्टिकोण व्याप्त था। प्रजा ने न्याय अभिलाषा के फलस्वरूप ही राजा के सार्वभौमिक पद को स्वीकार किया था। ऋग्वेद से लेकर जातक युग तक की न्याय व्यवस्था राजा में केन्द्रित थी। राजा को न्याय कार्य में सहयोग प्रदान करने के लिए न्यायधीश, छोटी व बड़ी अदालतें, सभा व परिषद् होती थीं। जहां पर मनुष्य धर्म और नैतिकता के आधार पर न्याय पा सकता था। वैदिक काल से सूत्र युग तक की न्याय व्यवस्था के प्रति राजा ही पूर्ण उत्तरदायी होता था। राज्य में शान्ति के सन्तुलन को बनाये रखने के निमित्तक अपराधियों को दण्डित करना न्यायधिकारी का प्रमुख कर्तव्य माना जाता था। अपराधी व उद्दण्डी को दण्डित करने पर राजा सुखों को भोगता हुआ स्वर्ग प्राप्त करता था। इतना सब कुछ होते हुए भी स्म ति युग के पहले तक न्यायालयों के क्रमिक गठन का अभाव था।

याज्ञवल्क्य स्म ति में न्याय व्यवस्था के विषय में विस्त त विवरण मिलता है। इस स्म ति में राज दण्ड का सिद्धान्त प्रतिपादित है। यद्यपि याज्ञवल्क्य स्म ति में आधुनिक युग की तरह व्यवस्था प्राप्त नहीं होती है तथापि इसमें प्राप्त होने वाली व्यवस्था अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। यहां विभिन्न विवादों को व्यवहार नाम से सम्बोधित किया गया है। व्यवहार के विषय के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य स्म ति का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति धर्मशास्त्र और आचार शास्त्र के विरुद्ध आचरण करे और उससे दूसरे मनुष्यों को पीड़ा पहुंचे तब यही पीड़ित व्यक्ति उस विषय के सन्दर्भ में राजा से निवेदन करे तो व्यवहार का विषय होता है।

स्म त्याचारव्यपेतेन मार्गेणा धर्षितः परैः।

आवेदयति चेद् राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्।।

याज्ञवल्क्य स्म ति में राजा द्वारा व्यवहार अर्थात् विवादों के धर्माशास्त्रानुसार नियमित निपटारे का निर्देश किया गया है। मनुस्म ति में भी कहा गया है कि लोगों के झगड़े को निपटाने की इच्छा से राजा को मन्त्रियों एवं ब्राह्मणों के साथ-साथ भवन में प्रवेश करना चाहिए ओर प्रतिदिन झगड़ों के कारणों का निपटारा करना चाहिए।

२. न्यायपालिका के अधिकारी

याज्ञवल्क्य स्म ति न्यायपालिका के अधिकारियों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट श ंखला प्रस्तुत नहीं करती फिर भी उसमें अधिकारियों के विषय में वर्णन मिलता है। न्याय कार्य का मुख्य अधिकारी राजा होता था। निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को दण्ड देना राजा का प्रधान कार्य था। राजा जिस प्रकार प्रशासनिक कार्य स्वयं न करके मन्त्रीगण की सहायता से करता था उसी प्रकार न्याय कार्य के लिए सभा और सभ्यों की व्यवस्था थी। इस स्म ति के अनुसार राजा

चाहिए जिससे वह न्यायिक परिधि में रहते हुए लोक परम्परा को समझ सके।

(३) सत्यवादी :- सभासद या न्यायाधीश का मनसावाचाकर्मणा सत्यवादी होना परम आवश्यक था। मनुस्म ति में भी सभासद का झूठ बोलना महान् पाप माना गया है।

(४) समभावी :- न्यायधीश को मित्र व शत्रु के साथ समान व्यवहार करने वाला होना चाहिए जिससे स्नेह एवं शत्रुता के वशीभूत अन्याय होने का अवसर स्थापित ही न हो।

(५) सर्वधर्मविद् :- इस स्म ति के अनुसार न्यायाधीश को सभी को जानने वाला भी होना चाहिए जिससे वह प्रत्येक धर्म की मर्यादा और परम्परा को समझ कर उचित न्याय कर सके।

मिताक्षरा का कथन है कि जो राजा न्यायाधीश मन्त्रियों, विद्वानों, ब्राह्मणों, पुरोहितों एवं सभ्यों जिनमें उपर्युक्त गुण हैं की उपस्थिति में विवाद का निर्णय करता है वह स्वर्ग को प्राप्त होता है।

नारद स्म ति के अनुसार विवाद के १८ पद उसके आठ हजार उपभेद, आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्क आदि में तथा वेद एवं स्म ति में न्यायाधीश को निपुण होना चाहिए। उसमें शल्यचिकित्सक के गुणों के समान कठिन विवादों में से गैर कानूनी बातों को निकाल देने का सामर्थ्य होना चाहिए। जिस प्रकार चिकित्सक शरीर में घुसे हुए लोहे के टुकड़े को निकाल देता है उसी प्रकार उन्हें भी व्यवहार में अनुपयोगी बातों को निकाल देना चाहिए। वशिष्ठ स्म ति में न्यायाधीश के विषय में कहा गया है कि जो व्यक्ति संस्कृति तथा आचार को नहीं जानते हैं, ईश्वर को नहीं मानते हैं धर्म ग्रन्थों के ज्ञान से रहित हैं, क्रोध, लोभ, घमण्ड एवं दरिद्रता से युक्त हैं वे सब न्यायाधीश बनने के अधिकारी नहीं हैं।

याज्ञवल्क्य स्म ति में कहा गया है कि राजा का कर्तव्य है कि सभा के जो सदस्य प्रेम के कारण धन के लोभ के कारण या किसी भय के कारण धर्म के विरुद्ध अपना निर्णय देते हैं तो पराजित व्यक्ति पर जितना दण्ड लगता है उसका दुगना उस सभासद पर लगाकर वसूल करना चाहिए। निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि न्यायधीश का विद्यावान्, कुलीन, धर्मज्ञ, प्रतिभायुक्त एवं श्रेष्ठ विधिवेत्ता होना आवश्यक समझा जाता था और उसका विवादों के विभिन्न भेद एवं उपभेदों से परिचित होना अनिवार्य था।

५. न्यायकार्य विधि या पद्धति

याज्ञवल्क्य स्म ति के अनुसार व्यवहार के या न्याय कार्य के चार चरण होते थे-

(१) पूर्वपाद :- वादी का पक्ष, जब कोई व्यक्ति किसी विवाद के संदर्भ में निर्णय के लिए न्यायालय में उपस्थित होकर आवेदन प्रस्तुत करता था। इसे भाषापाद भी कहा गया है।

(२) उत्तरपाद :- प्रतिवादी पक्ष, जब प्रतिवादी जिसके विरुद्ध वादी ने अभियोग प्रारम्भ किया है, अपने ऊपर लगे आरोपों का प्रत्युत्तर स्वीकारात्मक या नकारात्मक रूप में देने के निमित्त न्यायालय में उपस्थित होता था।

(३) क्रियापाद :- वह कार्यविधि जिसके द्वारा अभियोग का रहस्य और कारण जानकर नियन्त्रित करने का उपाय खोजा जाता था। इसमें वादी-प्रतिवादी का कथन, साक्ष्य इत्यादि सम्मिलित रहते थे।

(४) निर्णयपाद :- अभियोग की वास्तविकता को देखकर वादी प्रतिवादी के हित में सुरक्षा व शान्ति बनाए रखने के निमित्त दिया गया उपदेश या दण्ड निर्णय कहलाता था। यह साध्यसिद्धिपाद नाम से भी जाना जाता था।

१. लिखित प्रमाण

२. भुक्ति या कब्जा

३. साक्षी

४. दिव्य परीक्षा।

न्याय देने और पाने के लिए प्रमाण आवश्यक माने जाते थे। अनेक प्रकार की असंदिग्ध बातों का निराकरण और स्पष्टीकरण भी प्रमाण के द्वारा ही होता था। अभियोग की वस्तुस्थिति प्रमाणों के द्वारा प्रकाशमान हो जाती थी। इस आधार पर कि कहीं अन्याय न हो जाए जिससे प्रजा भयातुर हो जाए तथा प्रजा का न्याय से विश्वास उठ जाए-इन दोषों से बचने के लिए प्रमाण आवश्यक थे। प्रमाणों के द्वारा दोनों पक्ष, वादी और प्रतिवादी स्वतन्त्र रूप से खुलकर अपने मनोभाव व्यक्त कर सकते थे। इन प्रमाणों की पुष्टता के आधार पर ही जय और पराजय ग्रहण करनी पड़ती थी।

१. लिखित प्रमाण :- पत्र पर लिखी गई बातें लेख मानी जाती थीं और यही लेख लिखित प्रमाण होता था। लिखित प्रमाण सब प्रमाणों में श्रेष्ठ माना जाता था क्योंकि मौखिक सुनी गई एवं देखी गई बातों व घटनाओं में विस्मरण की सम्भावना रहती थी। अनेक स्थलों पर विभिन्नता भी प्रविष्ट हो जाती थी। अतः कथनों में असंगति की प्रधानता से देखी गई व सुनी गई बातें लिखी गयी बातों से कम प्रभावयुक्त होती थीं। इन दोषों से बचने के लिए लिखित प्रमाण को सर्वश्रेष्ठ माना गया था क्योंकि वह भ्रान्ति व असंगतियों से परे होता था।

लेख के प्रकार :- 'व्यवहार प्रकाश' में लेख के तीन प्रकार माने गये हैं :-

१. राज्य लेख

२. स्थानकृत लेख

३. स्वहस्त लेख।

राजा के सामने राजा द्वारा नियुक्त लेखक द्वारा लिखित तथा राजा द्वारा प्रमाणित लेख को राज्य लेख कहते थे। दूसरे राजा द्वारा नियुक्त लेखक द्वारा किसी विशेष स्थान पर लिखा गया एवं साक्षियों द्वारा प्रमाणित लेख स्थानकृत लेख कहा जाता था तथा जो लेखक स्वयं अपने हाथ से लिखकर अन्त में हस्ताक्षर करता था तो इस प्रकार के लेख को स्वहस्त लिखित लेख कहते थे। नारद स्म ति में दो ही प्रकार के लेख मान्य हैं :-

१. स्वहस्त लिखित।

२. राजमुद्रित लेख।

वशिष्ठ ने चार, व्यास ने आठ तथा कात्यायन ने लेखों को ग्यारह श्रेणियों में विभाजित किया है यद्यपि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट तौर पर लेखों की श्रेणियां विभक्त नहीं की हैं तो भी व्यवहाराध्याय के अन्तर्गत लेख्य प्रकरण की विषय वस्तु को देखकर लेखों की दो श्रेणियों का पता लग जाता है। :-

१. राजकृत

२. स्वहस्त लिखित।

१. लेख की प्रमाणिकता

याज्ञवल्क्य स्म ति के अनुसार लेख शुद्ध भाषा में लिखा जाता था तथा ऐसा लेख जो छलकपट और लोभ से रहित हो, प्रमाणित माना जाता था। लेख पर वर्ष, मास, पक्ष, दिन, जाति और गोत्र एवं पिता का नाम (उभयपक्ष) लिखना अनिवार्य होता था। इसके पश्चात् साक्षियों के

वाले उपभोग को चौथी पीढ़ी के स्वामित्व के लिए प्रामाणिक माना जाता था। जैसे प्रपितामह, पितामह और पिता ने किसी सम्पत्ति का उपभोग अनुचित ढंग से किया और उक्त तीनों व्यक्ति कुछ ही वर्षों में दिवंगत हो गए तो चतुर्थ पीढ़ी के व्यक्ति के अर्थात् प्रपितामह के प्रपोत्र का स्वामित्व इस प्रकार की सम्पत्ति पर उचित और प्रामाणिक माना जाता था। याज्ञवल्क्य स्म ति में इसे ही त्रिपुरुष का भोग या पूर्वक्रमागत भोग का नाम दिया गया है।

जहां आगम (लेख) व्यवस्था में सम्पत्ति की सुरक्षा अधिक पुष्ट होती थी वहीं अधिकार और औचित्य की सीमा में सम्पत्ति का भोग प्रमाणिक माना जाना न्याय व्यवस्था के पावन विचारों का प्रतीक था। निःसंकोच कहा जा सकता है कि भुक्ति नियम के द्वारा सहाय और असहाय लोगों की सम्पति की पूर्ण रक्षा होती थी। अनेक ऐसे स्थलों की प्रामाणिकता भी स्वीकार की गई थी जिन पर आगम और भुक्ति की प्रमाणिकता के बावजूद स्वामित्व नहीं प्राप्त होता था। जैसे याज्ञवल्क्य स्म ति में वर्णित है कि आधि (बन्धन), सीमा उपनिक्षेप, मन्दबुद्धि बालक का धन, उपनिधि, राजधन, स्त्रीधन, श्रोत्रिय ब्राह्मण का धन, दूसरे द्वारा दस या बीस वर्ष तक भोगे जाने पर भी अपने स्वामी के अधिकार से हीन नहीं होता था। कात्यायन के अनुसार भी यदि ३६ वर्ष से पूर्व ब्रह्मचारी स्वाध्याय करके तथा पचास वर्ष से पूर्व व्यक्ति विदेश से यदि वापिस आ जाए तो उसकी सम्पत्ति भोग कर्ता को वापिस लौटानी पड़ती थी। इस प्रकार की सम्पत्तियों पर भोगकर्ता को स्वामित्व नहीं मिल सकता था। इस प्रकार असहायों तथा राजकार्य एवं अध्ययन में व्यस्त पुरुषों की सम्पत्ति की रक्षा का गुरुभार शासन के कन्धों पर था। सम्पत्ति की यह सुव्यवस्था आन्तरिक शान्ति में सहायक होती थी।

३. साक्षी प्रमाण

लेख और भुक्ति प्रमाण के अभाव में साक्षी प्रमाण के द्वारा ही विवाद हल किये जाते थे। वैसे तो याज्ञवल्क्य स्म ति में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं जब साक्षी की आवश्यकता लेख प्रमाण के समय भी महसूस की गई थी। भुक्ति प्रमाण (जिसका आगम न हो) की अवधि को प्रमाणित करने के निमित्त भी साक्षी ली जाती थी। साक्षी से प्रयोजन था 'जिसने साक्षात देखा है।'

इससे स्पष्ट होता है कि ऐसे व्यक्ति जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपनी आंखों से किसी विवादास्पद घटना को देखा हो या अपने कानों से सुना हो वे ही साक्षी के योग्य माने जाते थे।

विष्णु धर्म सूत्र में उल्लेख है कि कभी-कभी ऐसा भी होता था कि यदि पूर्व नियुक्त साक्षी मर जाए तो मरने वाले व्यक्ति के मुख से निकले व तान्त को सुनने वाला व्यक्ति भी साक्षी मान लिया जाता था। इससे स्पष्ट होता है कि साक्षी प्रमाण के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य कालीन न्याय व्यवस्था पूर्णरूपेण सतर्क थी। साक्षी के द्वारा दो व्यक्तियों के मध्य उत्पन्न विवाद अथवा विरोध सम्भव हो सकता था। अधिक से अधिक सत्यता की प्रामाणिकता के निमित्त साक्षियों का प्रबन्ध मान्य था और वास्तविक साक्षी के अभाव में अभियोग तक रोक दिया जाता था। जब तक वास्तविक साक्षी न मिले साक्षी की भली प्रकार से जांच भी की जाती थी।

(i) **साक्षी की संख्या :-** 'त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेया।' अर्थात् याज्ञवल्क्य ने साक्षियों की संख्या किसी भी अभियोग में साधारणतः तीन मानी है।

परन्तु आचार्य ब हस्पति ने साक्षी संख्या के सम्बन्ध में विस्तारवादी द ष्टिकोण का सहारा लेकर साक्षियों की संख्या तीन से नौ तक स्वीकार की थी। जबकि कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित है कि यदि वेदज्ञ विद्वान मिल सकते हैं तो दो ही साक्षी पर्याप्त होते हैं। परन्तु साक्षी देने के निमित्त एक साक्षी को प्रामाणिक नहीं माना जाता। परन्तु याज्ञवल्क्य में ऐसा भी वर्णन मिलता है जिसमें कतिपय परिस्थितियों में एक व्यक्ति को भी साक्षी स्वीकार कर लिया जाता था।

(iv) **साक्षी की परीक्षा :-** साक्षी का उभयपक्ष सम्मत होना अनिवार्य होता था। इसी आधार पर दोनों पक्ष एक दूसरे पक्ष के साक्षी के दोषानुसार आलोचना करने में स्वतन्त्र्.ा थे। कात्यायन के अनुसार साक्षियों का साक्ष्य खुले न्यायालय में वादी और प्रतिवादी की उपस्थिति में सुना जाता था। यह ध्यान रखा जाता था कि साक्षी कहीं सच से दूर हटकर असत्य साक्ष्य तो नहीं दे रहा है। उसके कहने के ढंग, कान्ति परिवर्तन, हावभाव पर द ष्टि रखी जाती थी। असत्य भाषण करने वाले साक्षी की क्रिया और व्यवहार निम्न प्रकार से लक्षित होते थे :-

१ वह अशान्त और अस्थिर रहता है।

२. स्थान परिवर्तन करता है।

३. ओष्ठो को जिह्वा या दांतों से काटता है या चबाता है।

४. अनेक बार बनावटी खांसी करता है।

५. उसके चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है।

६. माथे पर पसीने के कण आ जाते हैं।

७. पैर के अंगूठे से भूमि खोदता है।

८. हाथ और वस्त्र हिलाता है।

६. अस्त व्यस्त व अनर्गल बोलता है।

१०. प्रश्न का सीधा उत्तर न देकर बचता है।

कूट साक्षी के विषय में याज्ञवल्क्य का उल्लेख है कि-

उक्ते पि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः।

द्विगुणा वा न्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः।।

अर्थात् साक्षियों के अपना ध्यान या वक्तव्य दे लेने पर जो दूसरे प्रकृष्ट या विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति अन्यथा कहें तो पहले के साक्षी कूट साक्षी हो जाते हैं। इस प्रकार के साक्षियों को अर्थात् कूट साक्षियों को समझा बुझाकर अथवा अनुशासन और नियन्त्रण में रखकर उसके द्वारा असत्य भाषित कथन पर कदापि विश्वास नहीं किया जाता था। साक्षियों से प्रश्न भी पूछे जाते थे। परन्तु यही अपेक्षा की जाती थी कि साक्षियों ने जो कुछ देखा अथवा सुना है उसे साफ और क्रमबद्ध कहें। साक्षियों की योग्यता के अनुरूप ही उनसे प्रश्न पूछे जाते थे।

(v) **साक्षी को दण्डित करने का विधान :-** कूट साक्ष्य को गुरु अपराध माना जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार-

प थक् प थग् दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा।

विवादाद् द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्म तः।।

अर्थात् धन लेकर मिथ्या बोलने वाले कूट साक्षियों से राजा अथवा न्यायाधीश उस विवाद में हारने वाले पर जितना दण्ड हो उससे दुगना दण्ड या धन कूट साक्षी से लेने का विधान है और यदि वह कूट साक्षी ब्राह्मण हो तो उसे अपने राज्य से निर्वासित होना पड़ेगा।

मनु ने कूट साक्षी पर अभियोग के धन का दस गुणा अर्थदण्ड की व्यवस्था का अधिकार न्यायालय को प्रदान किया था। एक अन्य स्थल पर याज्ञवल्क्य ने कहा है कि यदि कोई साक्षी प्रतिवचन देने के उपरान्त जांच के समय मुकर जाता था तो पराजित दल द्वारा दिये जाने वाले धन का आठ गुणा दण्ड के रूप में देना पड़ता था। ब्राह्मण को इस अपराध में देश से निष्कासन अथवा उसका घर गिराकर समतल मैदान कर देने का दण्ड दिया जाता था तथा अभियोग की घटनाओं से परिचित होते हुए भी साक्षी न देने वाले स्वस्थ व्यक्ति को विवाद के बराबर

एक ही अंश प्रमाणित हो उसे ही प्रमाण मानकर उन दिव्यों को भी त्याज्य करार दिया था जिनके द्वारा सम्पूर्ण अभियोग की सार्थकता प्रमाणित हो सकती थी। जंगल, रात्रि, साहस, एकान्त, घर के भीतर किये गये लेन, देन या अनुबन्ध पर जहां मनुष्य प्रमाण का अभाव रहता था तो दिव्य प्रमाण स्वीकार्य होता था। नारद स्म ति के अनुसार धन या धरोहर से मुकर जाने एवं स्त्री की पवित्रता सिद्ध करने के निमित्त भी दिव्य को स्वीकार किया जाता था। परन्तु स्थाई सम्पत्ति के मामलों में दिव्य प्रमाण ग्राह्य नहीं था। दिव्यों का प्रयोग अधिक सम्पत्ति वाले (एक हजार पण से अधिक) अभियोग में ही किया जाता था।

दिव्य का प्रयोग :- अभियुक्ता और अभियोक्ता दोनों में से किसी के लिए हो सकता था। राजद्रोह और ब्रह्महत्या जैसे विवादों में बिना विचारे ही दिव्य का सहारा ले लिया जाता था। स्त्री, बालक, व द्ध और अंधे, पंगु, ब्राह्मण और रोगी के लिए तुला का दिव्य, क्षत्रिय के लिए अग्नि का दिव्य, वैश्यों के लिए जल का दिव्य, शूद्रों के लिए सात यव के बराबर विष का दिव्य होता था।

दिव्य प्रमाण पवित्रता के साथ मंदिर में राज द्वार चौराहों पर या न्यायालय में विद्वान् ब्राह्मणों व न्यायाधीशों की उपस्थिति में उपयुक्त समय पर किया जाता था। किसी निर्जन स्थान या जंगल में दिव्य प्रमाण लेना वर्जित व अमान्य था। खुले रूप में दिव्य लेने का मुख्य प्रयोजन यह होता था कि सम्पूर्ण नागरिक असत्य के प्रति उदासीन हो सकें। अनेक अवसर ऐसे भी प्राप्त होते रहे थे जब दिव्य प्रमाण में प्रतिनिधि भी स्वीकार कर लिये जाते थे।

७. दायभाग

प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में दाय शब्द का प्रयोग मिलता है। (ददात वीरं शतदायमुक्थ्यम्) ऋग्वेद में शतदाय का अर्थ सायण ने अधिक दाय (वसीयत) बताया है। तैत्तिरीय संहिता में पैत क संपत्ति के अर्थ में दाय शब्द का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद में दायाद शब्द आया है जिसका अर्थ है दायम् आदत्ते अर्थात् जो दाय (पैत क धन) को लेता है उस अधिकारी को दायाद कहते हैं। निघण्टु ने विभाजित होने वाले पैत क धन को दाय कहा है। इस प्रकार दाय विभाग शब्द का मुख्य अर्थ है-पिता पितामह आदि का अपने सम्बन्धियों पुत्रों-पौत्रों आदि में मिताक्षरा सम्पत्ति का विभाजन करना। याज्ञवल्क्य की भूमिका में मिताक्षरा ने कहा है कि दाय का अर्थ है वह धन जो उसके स्वामी के सम्बन्ध से किसी अन्य की सम्पत्ति हो जाता है। मिताक्षरा ने दाय को दो भागों में विभाजित किया है :-

१. **अप्रतिबंध**

२. **सप्रतिबंध।**

अप्रतिबंध में पुत्र-पौत्र एवं प्रपौत्र अपने सम्बन्ध से ही अपने पिता-पितामह एवं प्रपितामह द्वारा आगत वंश परम्परा के धन को प्राप्त करते हैं। इसमें पिता या पितामह की उपस्थिति से पुत्रों एवं पौत्रों की कुल सम्पत्ति के प्रति अभिरुचि में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता क्योंकि वे उसी कुल में उत्पन्न हुए होते हैं। इस कारण इसे अप्रतिबन्धित दाय की संज्ञा दी गई है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने चाचा की सम्पत्ति पाता है या कोई पिता अपने पुत्र की सम्पत्ति सन्तानहीन चाचा या सन्तानहीन पुत्र के म त हो जाने पर पाता है तो सप्रतिबन्धित दाय कहा जाता है क्योंकि इन स्थितियों में भतीजा या पिता क्रम से अपने चाचा या पुत्र की सम्पत्ति पर तब तक स्वामित्व नही पा सकता जब तक चाचा या पुत्र जीवित रहता है या जब तक चाचा का पुत्र या पौत्र जीवित रहता है।

याज्ञवल्क्य ने सम्पति के तीन भेद माने हैं - **(१) भू (२) निबन्ध (३) द्रव्य** और कुल सम्पत्ति को दो भागों में बांटा गया है - **(१) संयुक्त कुल सम्पत्ति (२) प थक् सम्पत्ति।**

के विरुद्ध कार्य करता हो तो उसको विभाजन का अधिकार नहीं है।

(ii) **दाय विभाग का निर्धारण :-** दाय विभाजन के विषय में याज्ञवल्क्य का मत है कि पिता की म त्यु के बाद यदि भाई विभाजन करे तो संस्कार रहित भाईयों का संस्कार सबके सम्मिलित धन द्वारा होना चाहिए तथा अविवाहित बहनों का विवाह संस्कार सभी भाई अपने भाग का चतुर्थ भाग देकर करें। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो पतित होते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार समान जाति की पत्नियों के पुत्रों को बराबर दाय भाग मिलना चाहिए और विभाजन के पहले पैत क सम्पत्ति से कुल के ऋणों को वापिस कर देना चाहिए या लौटा देना चाहिए। (विभजेरन् सुताः पित्रोरूर्ध्वं रिक्थम णं समम्।)

(iii) **पुत्रों के विभिन्न प्रकार व उनका दाय विभाग :-** मनु के अनुसार पिता को नरक से जो बचाता है उसे ब्रह्मा ने पुत्र नाम दिया है। पिता पुत्र से स्वर्ग तथा उत्तम लोकों को प्राप्त करता है और पौत्र रहने से बहुत समय तक उसमें निवास करता है और प्रपौत्र रहने से सूर्य लोक प्राप्त करता है। याज्ञवल्क्य ने १२ प्रकार के पुत्र बताए हैं :-

१ औरस :- यह पुत्र सजातीय पत्नी से उत्पन्न होता है।

२. पुत्रिका पुत्र :- अपनी लड़की का पुत्र पुत्रिका पुत्र कहलाता है।

३. क्षेत्रज पुत्र :- रोगी, नपुंसक तथा मरे हुए की स्त्री में नियोग से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज होता है।

४. दत्तक पुत्र :- किसी सजातीय व्यक्ति को जन्म के साथ संकल्प करके दिया गया पुत्र दत्तक पुत्र कहलाता है।

५. कृत्रिम पुत्र :- सजातीय पुत्र को अपना पुत्र मानने पर वह पुत्र कृत्रिम पुत्र कहलाता है।

६. गूढज पुत्र :- घर में निम्न जाति के पुरुष से उत्पन्न पुत्र गूढज कहलाता है।

७. अपविद्ध पुत्र :- माता-पिता द्वारा त्याज्य पुत्र को कोई अपना पुत्र कहे तो उसे अपविद्ध पुत्र कहते हैं।

८. कानीन :- अविवाहित कन्या से पित ग ह में उत्पन्न पुत्र कानीन कहलाता है।

६. सहोढज पुत्र :- स्त्री के विवाह के समय गर्भ में रहा हो वह सहोढज पुत्र कहलाता है।

१०. क्रीत पुत्र :- माता पिता को धन देकर खरीदा गया पुत्र क्रीत पुत्र कहलाता है।

११. पौनर्भव पुत्र :- विधवा स्त्री परपुरुष के संयोग से जिस पुत्र को उत्पन्न करती है उसे पौनर्भव कहते हैं।

१२. स्वयंदत्त पुत्र :- माता पिता से त्यक्त या हीन होकर स्वयं को किसी अन्य के पुत्र रूप में अर्पित करने वाला पुत्र स्वयंदत्त कहलाता है।

इन पुत्रों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान औरस पुत्र का है। वह अपने पिता की सारी सम्पत्ति प्राप्त करता है। यदि किसी को पुत्री का पुत्र लेने के बाद औरस पुत्र हो जाए तो दोनों को बराबर भाग मिलता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार यदि किसी ब्राह्मण को चारों जातियों की पत्नियों से पुत्र उत्पन्न हों तो सारी सम्पत्ति को दस भागों में विभाजित करके ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र को चार भाग, क्षत्रिया से उत्पन्न पुत्र को तीन भाग, वैश्या से उत्पन्न पुत्र को दो भाग और शूद्रा के पुत्र को एक भाग मिलेगा।

याज्ञवल्क्य के मत में पुत्र-पौत्र और प्रपौत्र से वंश परम्परा बनी रहती है और ये सब दाय भाग के अधिकारी जन्म से ही होते हैं। याज्ञवल्क्य ने विवरण दिया है कि यदि किसी व्यक्ति

ग्रस्त व्यक्ति दायाद अधिकारी नहीं होते। उनको केवल भाईयों से भरण पोषण का अधिकार मिलता है परन्तु उनके पुत्र दोषरहित हों तो वे दायाद अधिकार होते हैं।

८. ऋणादान

याज्ञवल्क्यस्म ति के ऋणादान प्रकरण में उत्तमर्ण (साहूकार) तथा अधमर्ण (कर्जदार) के परस्पर लेन-देन की विशिष्ट शर्तों से सम्बन्धित विवेचना की गई है। इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्यक्य का कथन है कि ऋण लेते समय किसी वस्तु को गिरवी रखने पर प्रतिमाह सौ रुपये पर लगभग बारह आने ब्याज लेना चाहिये। यदि कोई वस्तु गिरवी न रखी हो तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र से क्रमशः २।३।४।५ रुपया प्रतिमाह प्रति सैकड़ा का ब्याज लेवे। जंगल में या समुद्र मे व्यापार करने जायें तो उनसे दस एवं बीस रुपये प्रति सैकड़ा के हिसाब से ब्याज लें। या फिर परस्पर दोनों में जो निर्धारित किया हो तो उसे ही लेवें। यह नियम सभी जाति एवं वर्णों के लिए है। स्त्री पशु का ब्याज उनकी सन्तति ही होती है। वस्त्र, धान्य व हिरण्यादि का क्रमशः चौगुणा, तिगुना व दुगुना होता है। साहूकार कर्जदार से अपना धन व्यवहार से, धर्म से, नीति से या देशाचार से ले सकता है। यदि सदाचार का उल्लंघन करके अन्य उपाय का आश्रय लेकर राजा से निवेदन करता है तो राजा को चाहिए कि वह धनी के धन को दिलवाये। ऋणी ब्राह्मण के धन को पहले देवे फिर क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के धन को देवे। यदि साहूकार के धन को राजा को दिलाना पड़े तो वह ऋणी से १० प्रतिशत व धनी से ५ प्रतिशत के हिसाब से शुल्क लेवे। यदि कोई ऋणी ऋण लौटाने में असमर्थ हो तो समान या निम्न जाति का होने पर उससे काम कराकर अपना ऋण वसूल कर लेवे। यदि उच्च जाति से हो तो उसे धीरे-धीरे विलम्ब से धन ले ले। ऋणी द्वारा ऋण लौटाने पर तथा लालच से अभिभूत धनी द्वारा ऋण न लेने पर ऋणी धन को मध्यस्थ के पास रख देवे जिससे ऊपर और ब्याज न लगे। संयुक्त परिवार के लिए ऋण को उसके उत्तराधिकारी लौटायें इसके लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं :-

"अविभक्तैः कुटुम्बार्थे यद णं तु कृतं भवेत्।

"दद्युस्तद्रिक्थिन प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि।।"

पिता ने यदि मदिरापान, कामवासना, द्यूतक्रीड़ा, राजदण्ड व शुल्कशेष तथा व थादान के लिए ऋण लिया हो तो पुत्र उसे न देवे। ग्वाला, सुरा बनाने वाला, नट, धोबी और व्याध इनकी स्त्री के द्वारा किया गया जो ऋण है उसे उसके पति दे देवें। पिता के व्यसन में पड़ जाने पर उसके वंशज उसके ऋण को देवे। भाई, स्त्री, पुरुष, पिता और पुत्र आदि सम्मिलित होवें तो ये ऋण साक्षी नहीं माने जाते। जमानत के तीन भेद बताते हुए कहते हैं-**"दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते"** अर्थात् कुछ वस्तु दिखाने की शर्त वाली, विश्वसनीय व्यक्ति क विश्वास वाली तथा ये न लौटाये तो मैं लौटाऊँगा इस प्रकार की शर्त वाली। ऋणादान में ये तीन जमानतें होती हैं।

ऋणी के मर जाने पर उसके जमानती उसके ऋण को बराबर के हिस्सों में बांटकर दे देवें। ऋणी द्वारा लौटाने पर ऋण रूप में दी गई वस्तुओं में अन्न तिगुना, वस्त्र चौगुना तथा धातु पीतलादि आठ गुना वापिस करनी चाहिए। उपयोग करने योग्य वस्तु जिसे धनी उपयोग में लाता हो यदि गिरवी रूप में रखी हो तो ऋणी केवल मूलधन को ही लौटाए ओर यदि गिरवी रूप में वस्तु खराब हो जाए तो उसे मध्य में ही बदल कर नई वस्तु को गिरवी रूप में रखे। या फिर धनी का धन वापस कर देवे। यदि धनी गिरवी वस्तु का लालच करके उसे ऋण मुक्त करना चाहे तो वह वस्तु धनी की समझी जाती है। इस प्रकार ऋण लेन-देन का व्यवहार याज्ञवल्क्य स्म ति में बतलाया गया है।